RESEARCH REVIEW JOURNALS
Volume-03
Issue-09
September-2018

ISSN: 2455-3085 (Online)
RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary
www.rrjournals.com [UGC Listed Journal]

अपोह– पक्ष एवं प्रतिपक्ष

डॉ. सरोज गुप्ता

शब्दार्थ से संबंधित इस समस्या का भारतीय दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। यथार्थवाद और अपोहवाद के बीच हुए खण्डन और मण्डन का इतिहास बहुत पुराना रहा है। सभी दर्शनों ने अपने सिद्धांतों की रक्षा के लिए नये सिद्धांत को जन्म दिया और और दूसरे दर्शन के सिद्धांत की आलोचना की। पाँचवी सदी से ग्यारहवीं सदी तक का युग भारतीय दर्शन का स्वर्ण युग कहा जा सकता है जिसमें भारतीय दर्शन के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों का विकास हुआ। इस युग में एक और दिङ्नाग सम्प्रदाय और दूसरी ओर बाह्यार्थवादी वैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों (न्याय–वैशेषिक और पूर्व–मीमांसा) में लगातार संघर्ष चला जिसके फलस्वरूप उनके दार्शनिक सिद्धांतों का विकास हुआ और न्याय–वैशेषिक दर्शन की वर्तमान रूपरेखा भी उसी संघर्ष का फल है। इस संघर्ष में भाग लेने वाले कतिपय महान् दार्शनिक दिङ्नाग के अतिरिक्त उद्योतकर, धर्मकीर्ति, कुमारिल, प्रभाकर, वाचस्पति मिश्र, उदयन, शांतरक्षित आदि हैं।

धर्मकीर्ति द्वारा यथार्थवाद पर आक्षेप

बौद्ध लोग किसी नित्य तत्त्व को स्वीकार नहीं करते। वे सामान्य या जाति पदार्थ को नहीं मानते हैं। मीमांसा और न्याय आदि दर्शनों में 'सामान्य' एक नित्य तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित है। सारा विवाद यहीं से प्रारंभ होता है। विवाद की दूसरी सीढ़ी तब आती है, जब जातिवादी कहता है कि अपोहन या व्यावर्तन का कार्य जाति द्वारा स्वतः सम्पन्न हो जाता है और इसके विपरीत बौद्ध कहता है कि जाति केवल मानसिक कल्पना है, वस्तुतः अर्थ 'अपोह' ही हैं वास्तविक स्थिति यह है कि बौद्ध तो क्षणभंगवादी है। उनके यहाँ 'सर्व क्षणिकम्' सब कुछ क्षणिक है – यह एक मुख्य सिद्धांत है। इसलिए वह जाति जैसे नित्य पदार्थ को मान नहीं सकते हैं। जाति का खंडन कर देने पर 'जाति' का जो कार्य – 'अनृवृत्ति प्रत्यय' अथवा एकाकार प्रतीति है, वह कैसे होगी? इस प्रश्न का उत्तर बौद्ध लोग 'अपोह' के द्वारा देते हैं। अर्थात् अनुवृत्ति प्रत्यय का कारण वह जाति के स्थान पर 'अपोह' को मानते हैं। 'अपोह' का अर्थ है 'अतद्व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्नभिन्नत्व'। दस घट व्यक्तियों में जो घटः, घटः इस प्रकार की अनुगत प्रतीति होती है, उसका कारण उनमें रहने वाला 'घटत्व सामान्य' नहीं अपितु उनका 'अघट व्यावृत्त' या घटभिन्न समस्त जगत् से भिन्न होना ही है। अतत् अर्थात् अघट अर्थात् घट से भिन्न सारा जगत् हुआ, उस जगत् से भिन्न घट हुआ। यह 'तदभिन्न भिन्नत्व' या 'अतद् व्यावृत्ति' ही घटों में अनुगत प्रतीति का कारण है। इसी को बौद्ध–दार्शनिक 'अपोह' कहते हैं।

कुमारिल भट्ट और उद्योतकर द्वारा अपोहवाद का खण्डन

दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के अपोह सिद्धांत पर, जो कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की समानता और नित्यता नहीं मानता, है, यथार्थवादियों द्वारा तीव्र प्रहार किये गये और न्याय–विद्या को पुनर्जीवन प्रदान किया गया। नैयायिक उद्योतकर और मीमांसक कुमारिल भट्ट ने शब्द की प्रतिषेधात्मक संकल्पना की कटु आलोचना की। व्यक्ति में अनुगत अर्थात् एकाकार की प्रतीति का कारण नैयायिक तथा मीमांसक जाति को मानते हैं। वे मानते हैं कि जाति इंद्रियों द्वारा साक्षात् प्रत्यक्ष है जो व्यक्ति में स्थित एक वास्तविक सत्ता है। जाति का ही दूसरा नाम 'सामान्य' है। सामान्य नित्य और अनेक में समवेत धर्म है।

कुमारिल भट्ट का कथन है कि अपोह प्रकारान्तर से जाति की ही संज्ञा है, इसमें कोई नई बातें नहीं हैं। जैसेकि कहा है कि जिन बौद्ध लोगों ने 'अगोनिवृत्ति रूप' 'अपोह' नाम के सामान्य को ही गोपद का वाच्य कहा है, उन्होंने वस्तुतः 'अपोह' शब्द से 'गोत्व' नामक जाति में ही गोपद की शक्ति को माना है।[i] तथापि यदि 'अगोनिवृत्ति' में गोशब्द की शक्ति है, तो उससे किस व्यक्ति रूप भाव पदार्थ का बोध होगा क्योंकि शब्द की शक्ति चाहे जाति में मानें या व्यक्ति में, व्यक्ति का भान शब्दबोध में मानना पड़ेगा।

कुमारिल भट्ट आगे कहते हैं कि शब्द का अर्थ विध्यात्मक है, वह कभी भी अपोहात्मक नहीं होता। 'अपोह' जो कि पूर्ण रूप से निषेधात्मक है, वह शब्दार्थ का विषय नहीं बन सकता, क्योंकि ऐसा प्रतीत भी नहीं होता है।[ii] उद्योतकार इस विषय में कहते हैं कि अपोह की मान्यता सर्वथा असंगत है। सिंह का अर्थ सिंहत्व जाति न लेने पर माणवक को भी सिंह मानने का प्रसंग उठ खड़ा होगा। उद्योतकार आगे कहते हैं कि बिना मुख्य को समझे अमुख्य का प्रतिषेध कैसे होगा?[iii]

अभाव के लिए भाव आवश्यक है

अपोह सिद्धांत के विरोध में अन्य तर्क देते हैं कि अपोह एक में दूसरे की अविद्यमानता है। 'अ', 'ब', 'स' तीन अक्षर है। 'अ' का भिन्नत्व 'ब', 'स' और 'स' का भिन्नत्व 'अ', 'ब' में निहित है। उनकी यह भिन्नता जाति के समान नियत नहीं है, तब फिर यह कैसे कह सकते हैं कि उसमें परस्पर भिन्नता है। यह तभी सिद्ध किया जा सकता है जब उनमें कुछ नियत भाव हो, जिसका अन्य में अभाव हो। अर्थात् निषेध किसी भाव का होता है, अभाव का नहीं। जब भिन्नत्व कोई भाव नहीं, तब फिर उसके निषेध का कोई औचित्य नहीं।[iv] 'गो' का अर्थ 'अगो निषेध' ज्ञान के लिए 'गो' का ज्ञान आवश्यक है। अतः निषेध से पहले अन्वय का पूर्वानुमान करना पड़ेगा।

अपोह एक अथवा अनेक?

कुमारिल भट्ट और उद्योतकर के प्रस्तुत आलोचनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि क्या अपोह को पदार्थ मानना उपयुक्त है? क्या विधि के बिना के बिना निषेध संभव है? क्या पदार्थ को अपोह मानने पर शब्दों में भेद और सम्बन्ध है। कुमारिल भट्ट और उद्योतकर ने इन सभी प्रश्नों का निषेधात्मक उत्तर दिया है। अतः इनके मत में अपोहवाद एक असंगत सिद्धांत रह जाता है।

बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित द्वारा कुमारिल भट्ट के प्रत्याक्षेपों का निराकरण

कुमारिल भट्ट और उद्योतकार द्वारा दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के अपोहवाद पर किये गये आक्षेपों का समाधान करके शान्तरक्षित ने अपोहवाद की पुनर्स्थापना की। शान्तरक्षित ने यथार्थवादियों के प्रहारों को सहकर अपोह सिद्धांत में कुछ परिवर्तन किया कि

© RRIJM 2015, All Rights Reserved

दिङ्नाग आदि के समान अपोह से अभिप्राय पूर्ण अतद् निषेध नहीं है अपितु शब्दार्थ में अपोह मानने पर विधि और निषेध अनुक्रम से उपस्थित होते हैं। उद्योतकर जब यह पूछते हैं कि अपोह विध्यात्मक है या निषेधात्मक, तब शान्तरक्षित उत्तर देते हैं कि यह न तो विध्यात्मक है और न ही प्रतिषेधात्मक। वस्तुतः यह उस वस्तु में नहीं रहता है जिससे पहचाना जाता है, इसलिए यह विध्यात्मक नहीं है और यह निषेधात्मक भी नहीं है, क्योंकि यह विधि रूप में प्रकट होता है।[v]

भाव रहित अभाव सिद्ध है

कुमारिल भट्ट अपोह के विरोध में जब यह कहते हैं कि 'अ' 'ब' 'स' एक–दूसरे से इसलिए भिन्न हो सकते हैं, जबकि उनमें कुछ नियत भाव हो। निषेध किसी भाव का ही हो सकता है, अभाव का नहीं। 'गो' का अर्थ 'अगो निषेध' मानने पर 'गो' का ज्ञान आवश्यक है। विरोध से पहले अन्वय का ज्ञान आवश्यक है। शान्तरक्षित उत्तर देते हैं कि यह तो जाति समर्थक भी मानते हैं कि 'गोत्व' अश्व में नहीं पाया जाता, क्योंकि अश्व की प्रकृति में 'गोत्व' धारण करने की क्षमता नहीं है।[vi] 'अ' 'ब' 'स' परस्पर भिन्न हैं, परन्तु उनमें ही गोत्व धारण करने की क्षमता है, क, ख, ग में नहीं, क्योंकि गोत्व समुदाय–विशिष्ट के विशेष में ही व्यक्त होता है। अतः जाति की सत्ता स्वीकार किये बिना ही यह कह सकते हैं कि सभी विशेष गो हैं। इस प्रकार अतद् निषेध स्वयं सिद्ध हो जाता है।

शान्तरक्षित द्वारा कुमारिल भट्ट के सिद्धांत का पक्षतः समर्थन

कुमारिल भट्ट का यह मत कि विधि के बिना निषेध की स्थिति नहीं होती। जैसे कि 'गो' शब्द की सिद्धि के बाद ही 'अगो' शब्द की सिद्धि होगी। 'अगो' की सिद्धि के बाद ही अगोव्यावृत्ति संभव होगी। शान्तरक्षित कुमारिल भट्ट के इस सिद्धांत को मानते हैं। उनके मत में शब्द का साक्षात् अर्थ 'अतद्–व्यावृत्ति' युक्त नहीं होता है। वह तो परोक्ष रूप से होता है। साक्षात् रूप से विधि–अर्थ प्राप्त होता है तदनन्तर वह साक्षाद् विधि–अर्थ विरुद्ध अर्थ का निषेध करता है। ये दोनों कार्य अनुक्रम से होते हैं।[vii]

इस प्रकार शान्तरक्षित के सिद्धांत ने दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के विचारों को और अधिक स्पष्ट कर दिया। कुमारिल भट्ट और उद्योतकर के आक्षेपों का समाधान करके शान्तरक्षित ने अपोहवाद की पुनर्स्थापना किया। विध्यात्मक अर्थ की मिथ्या प्रतीति, साक्षात् और परोक्ष अर्थों की अनुक्रम से प्रतीति, आदि सिद्धांतों ने अपोहवाद को अधिक स्पष्ट और सुलभ बना दिया, जबकि नैयायिक अपोहवादियों ने इन प्रत्युत्तरों से संतुष्ट नहीं हुए। वे इन प्रत्युत्तरों को निराधार कहते हैं।

वाचस्पति मिश्र द्वारा अपोहवाद की आलोचना

शान्तरक्षित और कमलशील बौद्ध दार्शनिक के बाद न्याय–दार्शनिक वाचस्पति मिश्र हुए, जिन्होंने बौद्धदर्शन पर अपने तर्कों से प्रहार किया।

जाति के सत्ता विषयक आक्षेप का खण्डन

न्याय–वैशेषिक का कथन है कि गोत्व आदि जाति 'समवाय' संबध से गो आदि व्यक्तियों में रहती है। इस पर बौद्धों की ओर से कहा जाता है कि जाति या सामान्य नाम की वस्तु किसी प्रकार भी व्यक्तियों में नहीं रह सकती, अर्थात् सामान्य नाम की कोई यथार्थ वस्तु ऐसी नहीं है जो परमार्थ सत् वस्तु में रहती हो। प्रश्न यह है कि गोत्व आदि जाति केवल गो–व्यक्तियों में ही रहती है या सब जगह रहती है? यदि जाति सब जगत रहती है तो सभी वस्तुएँ गाय हो जायेंगी, यदि कहें कि गो–व्यक्तियों में ही रहती है तो उत्पन्न हुई गो (व्यक्ति) में वह गोत्व जाति कहाँ से आयेगी। गोत्व जाति तो निष्क्रिय है। वह कैसे पहुँच सकती है। आदि–आदि।

धर्मकीर्ति के आक्षेपों का उत्तर देते हुए वाचस्पति मिश्र ने सामान्य की स्थिति के विषय में एक नवीन उद्भावना की है। उनके मत में ऐसी भी कुछ वस्तुएँ हैं जो साथ रहते हुए एक–दूसरे से सम्बन्ध नहीं रखतीं, जैसे कि बौद्धों के मत में समान काल में रहने वाले गंध, रस, रूप और स्पर्श तथा समानकालीन विज्ञान हैं जो परस्पर सम्बन्ध नहीं रखते। वैशेषिक सम्प्रदाय के अनुसार दिक्, काल, आकाश तथा आत्मा साथ–साथ सर्वत्र विद्यमान हैं। अर्थात् व्यापक है तो भी इनका आपस में कोई संयोग या समवाय सम्बन्ध नहीं माना जाता। इसी प्रकार, सामान्य भी सर्वत्र रहता है, किन्तु इसका समस्त वस्तुओं से सम्बन्ध नहीं होता। अपने व्यक्तियों से ही सम्बन्ध होता है। नवीन व्यक्तियों की उत्पत्ति ही सामान्य और समवाय का सम्बन्ध करा देती है। व्यक्तियों का यह सम्बन्ध अपने कारण की महिमा से ही हो जाता है। इसमें कोई शंका नहीं। इसलिए प्रमाणिक नैयायिक बौद्धों के इन आक्षेपों से भयभीत नहीं होते। वाचस्पति मिश्र यह कहना चाहते हैं कि समस्त सामान्य सर्वत्र विद्यमान है। उनका समवाय भी व्यक्ति की उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान है। विद्यमान सामान्य का केवल अपने व्यक्ति से ही सम्बन्ध होता है, अन्य व्यक्तियों से नहीं। जहाँ नवीन व्यक्ति उत्पन्न होते हैं, वहाँ किसी अन्य व्यक्ति से असंबद्ध सामान्य और समवाय पहले ही विद्यमान हैं। व्यक्ति का जन्म ही सामान्य और समवाय का सम्बन्ध है अर्थात् व्यक्ति सामान्य और समवाय से विशिष्ट की उत्पन्न होता है। इस प्रकार बौद्धों के इस आक्षेप का भी निराकरण हो जायेगा कि जाति के उत्पन्न होने तथा न होने की अवस्था में व्यक्ति में भेद हो जाएगा।

रत्नकीर्ति द्वारा आलोचना का प्रत्युत्तर

रत्नकीर्ति ने वाचस्पति मिश्र आदि यथार्थवादियों के आलोचनात्मक प्रहारों से आहत होकर होकर अपने ग्रंथ 'अपोह–सिद्धि' में अपोह सिद्धान्त का स्वरूप बदल दिया और परंपरागत मान्यताओं को तोड़ते हुए उसे एक नयी परिभाषा प्रदान की।

रत्नकीर्ति वाचस्पति मिश्र की आलोचना करते हुए कहते हैं कि वाचस्पति मिश्र का कहना है कि व्यक्ति जातियुक्त होते हैं, वे ही विकल्प और शब्द के विषय हैं। उनका रूप विजातीय रूप से विभक्त है, इस बात को अर्थतः समझ जाने के कारण 'गाय बाँधो' इस पर कोई घोड़ा आदि नहीं बाँधता है। यह तर्क शब्द के अर्थ को अन्यापोह से न मानकर 'अन्यापोह विशिष्ट विधि' मानने पर ही खण्डित हो जाता है अर्थात् 'गाय' शब्द से अर्थ का बोध वास्तव में अन्य व्यावृत्त अर्थ का बोध होता है।

उदयनाचार्य द्वारा अपोहवाद का खण्डन और यथार्थवाद का मण्डन

रत्नकीर्ति और उनके गुरु ज्ञानश्री ने अपोह को जो पुनर्जीवन प्रदान किया, उसको उदयनाचार्य ने अपने ग्रंथ 'आत्मतत्त्वविवेक' में क्षणभंगवाद में विस्तृत रूप से विवेचन करते हुए अपने प्रहारों से पुनः जर्जर कर दिया। उदयनाचार्य ने अपोह के प्रत्येक पक्ष की आलोचना करते हुए बाह्यार्थवाद को भी अन्तिम रूप प्रदान किया।

विध्यात्मक अर्थ की प्रतीति

उदयनाचार्य ज्ञानश्री और रत्नकीर्ति के मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि रत्नकीर्ति जो यह कहते हैं कि विधि की प्रधानता में अप्रधान रूप से गवादि से भिन्न का निषेध भी भासित होता ही है। अन्यथा गोत्व भी गौ का विशेषण नहीं हो सकेगा क्योंकि जो विशेष्य को दूसरों से व्यावृत्त नहीं करता, वह विशेषण ही

© RRIJM 2015, All Rights Reserved

नहीं होता और अन्याव्यावृत्ति का भान कराना ही तो दूसरों से व्यावृत्त करना है। यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि विधि ही हर रूप में भासित होती है। इसी में आचार्य का आग्रह है। अन्यथा विशेष्य–विशेषण की अप्रतीति होने पर अन्य की व्यावृत्ति भी न हो सकेगी। जैसे, कमल में ही नीलत्व की प्रतीति न होने पर रक्तादि की व्यावृत्ति भी नहीं होती है।[viii] तथा निषेध्य को सूचित किये बिना कोई भी प्रतीति निषेध को भी नहीं बता सकती है।

निष्कर्ष

इस समस्त विवेचन से हमें यह ज्ञात हुआ कि भारतीय दर्शन में जाति की समस्या ने दो प्रमुख वादों को जन्म दिया – न्याय–वैशेषिक और मीमांसा का बाह्यार्थवाद और बौद्धों का अपोहवाद। अपने–अपने सिद्धांतों की रक्षा के लिए इन सब दर्शनों ने अपने वादों की सत्यता को प्रमाणित किया जिसके कारण भारतीय दर्शन में आलोचना और प्रत्यालोचना का प्राचीन इतिहास चलता रहा।

सर्वप्रथम दिङ्नाग, धर्मकीर्ति द्वारा न्याय और मीमांसा के सामान्य विषयक सिद्धांतों की आलोचना की गई। इन्होंने जाति सम्बन्धी सिद्धांत मानने पर कुछ समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। जैसे समस्त गो–व्यक्तियों में जाति को मानने पर यह प्रश्न उठता है कि जब कभी कहीं एक गो उत्पन्न होती है तब उसी के साथ गोत्व भी उत्पन्न होता है? जब गो–व्यक्ति नष्ट होता है तो क्या गोत्व भी नष्ट हो जाता है? यदि हाँ तो गोत्व जाति को हम एक और नित्य न मान सकेंगे। यदि नहीं तो उत्पन्न हुई वस्तु के साथ गोत्व का सम्बन्ध कैसे बनेगा आदि–आदि।

इन बौद्धों की आलोचना की मीमांसक कुमारिल भट्ट और नैयायिक उद्योतकार ने उत्तर दिया और बौद्धों के अपोहवाद की तीव्र आलोचना की। उन्होंने कहा कि जिन बौद्धों ने 'अगोनिवृत्ति' रूप अपोह नाम के सामान्य को ही गोपद का वाच्य कहा है, वस्तुतः उन्होंने अपोह शब्द से गोत्व नामक जाति में ही गोपद की शक्ति को स्वीकार किया है। अन्यव्यावृत्ति के पश्चात् जो शब्द का नियत अर्थ शेष रह जाता है, वह जाति ही है। तथा शब्द का ज्ञान अपोहात्मक न होकर विध्यात्मक ही होगा आदि–आदि।

कुमारिल भट्ट और उद्योतकार द्वारा किये गये धर्मकीर्ति आदि के आक्षेपों का उत्तर देते हुए शान्तरक्षित और उनके टीकाकार कमलशील ने पुनः बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का पुनर्गठन किया। विध्यात्मक अर्थ की साक्षात् मिथ्या प्रतीति और निषेधाभास परोक्ष अर्थों की अनुक्रम से प्रतीति आदि सिद्धांतों ने अपोहवाद को अधिक स्पष्ट और सुलभ बना दिया।

शान्तरक्षित आदि के सिद्धांतों को तोड़ते हुए आगे चलकर वाचस्पति मिश्र नामक धुरन्धर नैयायिकाचार्य ने अपोहवाद को अपने प्रहारों से जर्जर बना दिया। उन्होंने बौद्धों के सादृश्य और भेदाग्रह विषयक सिद्धांतों को अपना निशाना बनाकर आलोचना का इतिहास आगे बढ़ाया और अपोहवाद को पुनः प्रश्नों के घेरे में लाकर खड़ा कर दिया।

बौद्धों के अंतिम महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ज्ञानश्री के शिष्य रत्नकीर्ति, जो अब तक यथार्थवादियों के काफी प्रहार झेल चुके थे, ने अपोहवाद के सिद्धांतों में कुछ परिवर्तन किया और वाचस्पति मिश्र के आक्षेपों का समाधान दिया।

ज्ञानश्री और रत्नकीर्ति के नवीन सिद्धांतों को अपनी आलोचना का आधार बनाते हुए प्राचीन न्याय के अंतिम नैयायिक उदयनाचार्य ने अपने तर्क के प्रहारों से बौद्धों के अपोहवाद को पुनः जर्जर कर दिया। उन्होंने अत्यंत विस्तृत विवेचन देकर यथार्थवाद की सत्यता सिद्ध करते हुए पुनः स्थापना की।

इस प्रकार देखते हैं कि परस्पर आलोचना और प्रत्यालोचना का यह क्रम भारतीय दर्शन में 600 वर्ष तक चलता रहा। जिसके फलस्वरूप यह समय भारतीय दर्शन का स्वर्णयुग कहा गया।

---

[i] अगोनिवृत्तिः सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम्।
गोत्वं वस्त्वेव वैरुक्तमगोऽपोहगिरा स्फुटम्।।
– मीमांसा श्लोक वार्तिक, अपो., का. 2

[ii] मीमांसा श्लोक वार्तिक, अपो., का. 36

[iii] न्याय दर्शन

[iv] इन्द्रियैर्नाप्यगोऽपोहः प्रथमं व्यवसीयते।
नान्यत्र शब्दवृत्तिश्च किं दृष्ट्वा स प्रयुज्यताम्।।
– मीमांसा श्लोक वार्तिक, अपो., का. 78

[v] न भावो नापि चाभावो पृथगेकत्व लक्षणः।
नाश्रितानाश्रितोऽपोहो नेकानेकश्च ना वस्तुतः।।
तथाऽसौ नास्ति तत्वेन यथाऽसौ वरूवसीयते।
तन्न भावो न चाभावो वस्तुत्वे नावसायतः।।
– तत्त्व संग्रह, का. 1188–90

[vi] तस्य व्यक्तौ समर्थात्मा स एवेति यदीष्यते।
तुल्यप्रत्यवमर्शेऽपि स शक्तो न तुरङ्गमः।।
– तत्त्व संग्रह, का. 1058

[vii] तत्त्व संग्रह, का. 1023

[viii] अवधिस्तु स्फुरतीत्यत्र सम्प्रति ना निर्बन्धः। अन्ययावच्छेद्यावच्छेदकयोरप्रतीते– खच्छित्तिरपि न स्यात्, यथोत्पलादावेव नीलत्वाद्यप्रतीतौ।
– आत्मतत्त्वविवेक, पृ.110

© RRIJM 2015, All Rights Reserved